बहुलोचना नदी

— जगदीश गुप्त

जय भारती प्रकाशन

लाल जी मार्केट, माया प्रेस रोड

258/365 मुट्ठीगंज,

इलाहाबाद-3 द्वारा प्रकाशित

मूल्य : 60/-

प्रथम संस्करण : 1996

इलाहाबाद

❖

कथा-काव्य 'जयन्त' के बाद लघु कविताओं का यह संग्रह डॉ. जगदीश गुप्त की काव्य-प्रतिभा का अप्रतिम पक्ष प्रस्तुत करता है | उन्होंने नयी कविता के क्षेत्र में जो कीर्ति पायी, उसने उनकी रचनाधर्मिता को शिथिल नहीं होने दिया वरन् उनकी अनेक रचनाएँ इस बीच प्रकाशित होती रहीं | कवि—कलाकार के रूप में उनकी प्रतिष्ठा सुविदित है |

'बहुलोचना नदी' मेरी कविताओं में व्याप्त बिम्बात्मकता का प्रतीक है अतः उसे ही मैंने इस संग्रह का शीर्ष-पद दिया है | जीवन-संघर्ष में व्याप्त संगति-विसंगति की अनेक मनःस्थितियाँ इन लघु कविताओं में उजागर हुई हैं |

नयी कविता में लघु मानव के रूप में लघुता बहुत चर्चित हुई है किंतु लघु कविताओं की ओर अधिक ध्यान नहीं गया | अपनी छोटी कविताओं को एक साथ प्रस्तुत करने का भाव मेरे मन में इसी कारण आया लम्बी कविताओं की चर्चा बहुत हो चुकी है, अब लघु कविताओं पर भी दृष्टि जाये तो समुचित संतुलन स्थाप्त हो सकता है | **'तेजवंत लघु गनियन रानी'** कथन की सार्थकता कविता और जीवन दोनों में निर्विवाद है |

1. बहुलोचना नदी

2. आस्था

29. घाटी की चिन्ता

30. शाखें और सूची-गुच्छ

3. सम्बन्ध
4. गति और मुक्ति
5. नयी सृष्टि !
6. अपूर्ण
7. व्यक्ति और समाज
8. छायामय
9. देह
10. तृषा और मृषा
11. क्या कहूँ
12. काल-प्रवाह
13. हिम-श्री को देखा
14. नमन की चार पंक्तियाँ
15. बन्धन, मुक्त मन के
16. कहा मन ने आँख से
17. बादल की सीप
18. हिम-शिखरों पर बादल
19. बादलः एक शब्द चित्र
20. बादल-भँवरे
21. ज्योति की मछलियाँ
22. बदलों के वलय
23. बात, रात से
24. छवि-तरी डूबी
25. ढाकुरी के भोर
26. नदी का आवेग
27. पाँगर-गन्ध बिथोरती
31. वन-स्पन्दन
32. हिम-शिखर: मन में
33. शिखरों से दूर हूँ
34. मैं वह क्यों नहीं हुआ
35. साँझ के बादल
36. उल्का
37. अहं का विस्फोट
38. अहं का विस्तार
39. मुक्त समय
40. घास के फूल
41. आँख
42. परम्परा
43. टेरो मत !
44. दया नहीं दर्द
45. दूध-सा, फूल-सा
46. प्रतिवाद
47. शिव और विष
48. विश्वास का हाथ
49. प्रवाहित मछली
50. निचला होंठ
51. पाश-बद्ध
52. होना-अनहोना
53. वक्ष-धुरव
54. घाटी का गुलाब
55. शब्द-निःशब्द

28. उस हिमानी देश में भी
57. फूल जो मैंने दिये
58. दो शब्द-चित्र
59. बहुवचन
60. गिद्ध-दृष्टि
61. गलत प्रतिदान
62. खुले-मुँदे हम
63. निर्वासित अहम्
64. मनः सृष्टि
65. अधूरा मन
66. पुरुष-पटु
67. इस बार भी
68. नकारती लौ
69. तुम्हें नहीं मालूम
70. भय का बिन्दु
71. अर्थ-बोध
72. यातना और दाह
73. ओस-विष
74. भस्म-शेष
75. वेशः मुक्त-केश
76. वरणीय
77. आत्मान्वेषी मौन
78. प्रदीप्त क्षण
79. अवतरण
80. चुनौती के बाद
56. पंख-स्पर्श
85. युग्म-भाव के तीन दोहे
86. युग्म-भाव के तीन दोहे
87. शब्द-हीनता
88. अधर-स्पर्श
89. विडम्बना
90. प्रश्न-ग्रन्थि
91. काला-सफ़ेद
92. पुतली
93. नखत की परछाई
94. टूटा शीशा
95. समय की माँग
96. सूखा-संत्रास
97. हरसिंगार रात
98. दृश्य-शिशु
99. एक घटना
100. एक समीकरण
101. सत्ता
102. एक व्यक्ति-चित्र
103. सीधी बात का काँटा
104. कुछ शेर
105. कब्र की आवाज
106. कीमतें
107. लोकतन्त्र
108. स्वतन्त्रता

81. नदी के धोखे

82. प्रितृप्ति की खोज

83. सार्थकता

84. दृष्टि: सही अर्थ में

109. विलोम-पथ

110. काव्य-सृजन

111. वाणी-वन्दना

❖

भूमिका

कम शब्दों में अधिक अर्थ सहेजना कवि-कर्म की कसौटी रहा है | 'अरथ अमित अति आखर थोरे' के रूप में मानसकार ने इसे पहले ही मान्यता दे दी है | 'तेजवंत लघु गनिया न रानी' में लघुता की तेजस्विता रेखांकित की गयी है | समास-प्रधान संस्कृत भाषा का तो यह स्वभाव ही रहा है | उर्दू ग़ज़ल के एक-एक शेर ने बड़ी-बड़ी बंदिशों को मात दी है | 'रुबाई' की तो बात ही अलग है | हिंदी में 'दोहा' इस दायित्व का संवहन युगों से करता रहा है | रहीम के 'बरवै' ने अभिव्यक्ति में और भी संक्षेप ला दिया | केशवदास ने एकाक्षरी छंद तक लघुता को खींच दिया पर इस वैचित्र्य ने कोई चमक पैदा नहीं की | हिंदी में दोहा-बरवै जैसा कोई अन्य छंद लोक-ग्राह्य नहीं हो सका | इधर, प्रकृति से प्रेषित जापानी सहित्य के प्रभाव को ग्रहण करते हुए अज्ञेय ने 'हइकू' का सूत्रपात किया जो बहुत लोक-प्रिय नहीं हो सका | 'कैप्सूल कविता' की बात उसी दिशा में एक नया प्रयत्न कहा जा सकता है पर मुझे इन रूपों ने प्रेरित नहीं किया | मुक्तक अपने ही समर्थ रहा है और अब भी उसकी संभावनाएँ निःशेष नहीं हुई हैं | उन्हें 'सत्रह अक्षरों' तक सीमित नहीं किया जा सकता |

- वस्तुतः छंद कवि के स्वभाव का प्रतिरूप होता है जैसे मुक्त-छंद निराला का द्योतक बन गया | 'हिम-विद्ध और युग्म' में मैंने अपने को ऐसे लघु-रूपों में व्यक्त किया है जो मुझे अविस्मरणीय लगते हैं | सामाजिक विसंगति ने भी ऐसी अनेक उद्भावनाएँ मेरे भीतर उत्पन्न कीं जिन्हें मुक्तकों में ही अपनी सार्थकता मिली | 'नाव के पाँव' और 'शब्द-दंश' में यह प्रवृत्ति मेरे अंदर पहले से ही सक्रिय थी | इधर भी यह क्रम चलता रहा | लम्बी कविताओं में भी ऐसे दीप्त अंश समाहित हो जाते हैं |

- लघुता का महत्व भारतीय चिंतन में सदा रहा है | 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' के भीतर यह तत्व-रूप में समाहित है | आधुनिक युग में लघुता की महत्ता मध्यकालीन दास-भाव से भिन्न दिखायी देती है जिसमें निराला के बादल-राग में उद्घोषित 'छोटे ही शोभा पाते' की चेतना केंद्र में दिखाई देती है | लघु-मानव की बात नयी कविता में अनायास नहीं आयी | शब्दों में सोया हुआ काव्य मुझे पंत जी के उस 'चित्र-राग' तक ले जाता है जिसमें हर शब्द अपनी आत्मा खोजता दिखायी देता है |

- ‘बहु लोचना नदी’ मेरी कवितायों में व्याप्त बिम्बात्मकता का प्रतीक तो है ही पर जीवन-संघर्ष में व्याप्त संगति-विसंगति की अनेक मनःस्थितियाँ भी इन लघु कविताओं में उजागर हुई हैं | काव्य-मर्मज्ञों को यह संग्रह रुचे तो मैं अपने संकल्प को सार्थक मानूँगा | अंत में यही कह सकता हूँ— ‘बहु लोचना नदी’ मेरे भीतर निरन्तर प्रवाहित रही है |

— जगदीश गुप्त

❖

1- बहुलोचना नदी

पुल से देखा,
हर नाव
नदी की आँख दिखी |
बहुलोचना नदी की
खोज में,
लिखी कविता
फिर भी रही
अनलिखी |

कविता पृष्ठ : 1

▪

2- आस्था

जो कुछ प्राणों में है,
प्यार नहीं, पीर नहीं, प्यास नहीं,
जो कुछ आँखों में है,
स्वप्न नहीं, अश्रु नहीं, हास नहीं |
जो कुछ अंगों में है,
रूप नहीं, रक्त नहीं, माँस नहीं,
जो कुछ शब्दों में है,
अर्थ नहीं, नाद नहीं, श्वास नहीं |
उस पर आस्था मेरी |
उस पर श्रद्धा मेरी |
उस पर पूजा मेरी |

कविता पृष्ठ : 2

▪

3- सम्बन्ध

प्रतिबिम्बित जलाशय में
आकाश, सारा का सारा |
नखत के लिए नखत
तारे के लिए तारा
शून्य के लिए किन्तु शून्य नहीं,
पूरित जल-राशि |
रिक्तता से रिक्त |
प्रतिबिम्बमय |
ऐसा ही होता सम्बन्ध
काश !
मेरा-तुम्हारा |

कविता पृष्ठ : 3

▪

4- गति और मुक्ति

बंधन है अगति
उसी से जीवन बँधता है,
गति से क्या मुक्ति, बंधु !
गति ही तो मुक्ति है |

कविता पृष्ठ : 4

▪

5- नयी सृष्टि !

विश्वास टिकाने को
या सर छिपाने को
अब
कहीं कोई जगह नहीं बची है,
मनुष्य !
तूने अपनी यह नयी सृष्टि
कैसे रची है ?

कविता पृष्ठ : 5

▪

6- अपूर्ण

स्नेह के बिना आदर,
आदर के बिना स्नेह,
दोनों अधूरे हैं |
दोनों के बिना, बंधु |
हम भी कहाँ पूरे हैं !

कविता पृष्ठ : 6

▪

7- व्यक्ति और समाज

समाज की
व्यक्ति-निरपेक्ष कल्पना,
कोरी कल्पना |
व्यक्तित्व-हीन प्राणी,
अर्थ-रहित वाणी |
व्यक्ति के लिए,
व्यक्ति की चाह |
—एक सुगंधित राह !

कविता पृष्ठ : 7

▪

8- छायामय

तुमसे दूर, बेतहाशा भागते हैं मेरे पाँव |
छोड़ते हुए पीछे, नदी-नाले, शहर-गाँव |
फिर भी, जहाँ जाकर दम लेते हैं,
पाते हैं, सर पर तुम्हारी छाँव |

कविता पृष्ठ : 8

▪

9- देह

देह का रूप, देह के पार जाता हुआ |
देह का अक्स, देह में समाता हुआ |
मैं चकित हूँ,
कैसे इतना सूक्ष्म
इतना पार-दर्श
देह से देह का नाता हुआ |

कविता पृष्ठ : 9

▪

10 - तृषा और मृषा

तृषा है, तृषा है, तृषा है |
वार-पार—
जीवन लहराता है सामने |
फिर भी अतृप्ति है,
कहीं कुछ—
मृषा है, मृषा है, मृषा है !

कविता पृष्ठ : 10

▪

11 – क्या कहूँ

पुण्य हूँ या पाप हूँ
क्या हूँ ?
जो कुछ भी हूँ
अपने आप हूँ
वही दाह देता है,
जलता हूँ,
वही राह देता है,
चलता हूँ,
भीतर सँजोये
कहीं
ऐसा एक ताप हूँ |
पुण्य हूँ या पाप हूँ ,
क्या कहूँ ?
जो कुछ भी हूँ
अपने आप हूँ |

कविता पृष्ठ : 11

▪

12 - काल-प्रवाह

रिक्तता में मन नहीं लगता
रिक्तता में दाह होता है ,
सिक्तता कैसे मिले मरु को
दूर, काल-प्रवाह रोता है !

कविता पृष्ठ : 12

▪

13- हिम-श्री को देखा

दृष्टि के किनारों तक
फैली आकारहीन
हिम-श्री को देखा—
लगा जैसे,
पुतली ने मुक्त हो—
मुड़ कर ज्यों,
आँख की धवलता को,
पहली बार पहचाना;
और ?
और अपनी मलिनता पर
लज्जित हो ठिठक गयी |

कविता पृष्ठ : 13

▪

14- नमन की चार पंक्तियाँ

नमन मेरा, हिम-जलद-अभिषिक्त शृंगों को |
नमन मेरा, शांत संध्यातीत रंगों को |
इंद्रधनु के गुच्छ जिन पर तैरते रहते,
नमन मेरा, अलकनंदा की तरंगों को |

कविता पृष्ठ : 14

▪

15 - बंधन, मुक्त मन के

हिम-शिखर, निर्झर, नदी-पथ, चीड़-वन,
मुक्त मन के लिए बंधन हो गये|
दृश्य से छन कर समाये आँख में,
आँख से, मन में बसे, मन हो गये|

कविता पृष्ठ : 15

▪

16- कहा मन ने आँख से

कहा मन ने आँख से—
तुम रमो उज्ज्वल शैल-शृंगों में,
मैं रहूँगा लीन तब तक और अंगों में|
गया जिस-जिस अंग तक मन—
विहग शिशु-सा खोलकर निज पाँख,
चकित हो पाया यही—
वह तो कभी का बन चुका है आँख !

कविता पृष्ठ : 16

▪

17- बादल की सीप

जाने कब
बादल की सीप ने,
नभ के उस अँधियारे कोने तक—
मोती-सी चाँदनी उलीच दी,
सारे हिम-शृंगों की कोर-कोर,
रेशम की आभा से फूट चली !

कविता पृष्ठ : 17

▪

18- हिम-शिखरों पर बादल

शिखरों पर टिके,
स्याह बादल की परछाईं—
चाँदी के मँजे हुए थाल में,
पूजा का दीपक रख,
आँखों में काजल-सा पार गयी।

कविता पृष्ठ : 18

▪

19- बादल : एक शब्द-चित्र

साझँ के, सेंदुर लिपे आकाश में—
सरक आया क्षुधित बादल-व्याल
लपलपाती दीर्घ विद्युत-जीभ जिसकी—
तुहिन-शिखरों पर विसुध सोयी हुई
स्वप्न-डूबी हर किरन को,
चाट जाना चाहती है।

कविता पृष्ठ : 19

▪

20- बादल-भँवरे

खिले देख
शिखरों के इन्दीवर,
परिचित कोमलता का भ्रम ले कर
बादल-भँवरे आते;
हिम की चट्टानों से,
बार-बार टकरा कर—
मन मारे, उड़ जाते,
नीली गहराई में
निर्मल आकाश की।

कविता पृष्ठ : 20

▪

21- ज्योति की मछलियाँ

बादलों की झील के ऊपर—

खिला शिखरों का कमल-वन !
भोर ने भर-मूठ कुंकुम-किरन-केसर
इस तरह फेंकी—
वनों के गहन पुरइन-पात सारे
रँग उठे।
ज्योति की बहुरंग झिलमिल मछलियाँ
झील के तलहीन बादल-नीर में
बहुत गहरे, बहुत गहरे,
तिर गयीं।

कविता पृष्ठ : 21

▪

22- बादलों के वलय

पवन-पीड़ित
उस अकेले
देवतरु की तरह
घेरते ही जा रहे हैं
बादलों के वलय

मुझको भी कहीं।
इन सुकोमल बंधनों से

मुक्त होकर
हवा से कैसे कहूँ—
जलद वलयित देवतरु
मैं हूँ नहीं।

कविता पृष्ठ : 22

▪

23- बात, रात से

आँख-सी उजली-धुली यह रात !
हिम-शिखर पर
रश्मियों के पाँव रख कर
बढ़ चली,

कहा मैंने—
रुको !
मैं भी साथ चलता हूँ,
गगन की उस शांत नीली झील के
निस्तब्ध तट पर
बैठ कर बातें करेंगे |

कविता पृष्ठ : 23

▪

24- छवि–तरी डूबी

सूर्य डूबा नहीं,
डूबी नहीं किरनें,
शिखर डूबे
तिमिर के उस नील पारावार में |

श्रृंग-छवि की ज्वार-विह्वल,
श्वेत पतली तरी पर तिरता हुआ,
नि:संग, मैं भी तो वहीं—
डूबा कहीं मँझधार में |

कविता पृष्ठ : 24

▪

25- ढाकुरी के भोर

बादलों की ओट से
छन कर गिरी जो
बीच गंगा में
यह नहीं वह रश्मि,
जो हिम पर पड़ी थी
ढाकुरी के भोर |
पत्तियों को बेध कर
दीवार पर छप-सी गयी जो,
नहीं, यह भी नहीं है वह रश्मि

जो मन में गड़ी थी,
ढाकुरी के भोर।

कविता पृष्ठ : 25

▪

26- नदी का आवेग

पर्वतों के बीच बहती
नदी का आवेग
जैसे—
अश्रु बन कर बिखरने से पूर्व,
हड्डियों को ठकठकाता हुआ कोई दर्द—
रिक्त- मन की घाटियों को चीर जाये।

कविता पृष्ठ : 26

▪

27- पाँगर—गंध बिथोरती

भर-भर अँजुरी
पाँगर-गंध बिथोरती !
पर्वत की कोमल बयार भी
अपनी गंधमादनी गति से
एक साथ ही
देह प्रान झकझोरती।
भँवरों की गुंजार टार कर
बिथुरी सौरभ-कणिकाओं से
गुपचुप मधु-रस चोरती।

कविता पृष्ठ : 27

▪

28- उस हिमानी देश में भी

दमकती हीरक-कनी-सी
उन अदेखी, शिखर-कोरों की चमक,
थके पैरों की दुखन, सहला गयी।
राह पथरीली
वनों के बीच छिपती-झाँकती

सिहरते हर एक रोएँ को,
उस हिमानी देश में भी—
स्वेद से नहला गयी |

कविता पृष्ठ : 28

▪

29- घाटी की चिन्ता

सरिता-जल में
पैर डाल कर
आँखें मूँदे, शीश झुकाये,
सोच रही है जाने कब से
बादलो ओढ़े घाटी |
कितने तीखे अनुतापों को,
आघातों को,
सहते-सहते
जाने कैसे असह दर्द के बाद
बन गयी होगी पत्थर !
इस रसमय धरती की माटी |

कविता पृष्ठ : 29

▪

30- शाखें और सूची-गुच्छ

शुभ्र हिम-शिखरों की—
सुषमा के भार से
झुकी-झुकी अभिमंत्रित
शाखें देवदारु की |
हिम-श्री को छूने के
निर्मल उल्लास से
उठे-उठे रोमांचित
—सूची-गुच्छ चीड़ के |

कविता पृष्ठ : 30

▪

31- वन—स्पंदन

तरु-शिखाएँ,
भूमि की आकाक्षाएँ
-------बेधतीं आकाश !
चीड़ सिहरन,
देवतरु रोमांच,
पुलकनों से बनी सारी पत्तियाँ,

स्पंदनों का गहनतम इतिहास—
परिणत हो गया जैसे बनों में,
किंतु धरती के हृदय की बात पूरी—
बँध कहाँ पायी त्वचा के कम्पनों में |

कविता पृष्ठ : 31

▪

32- हिम-शिखर : मन में

शीशे की नाव में
बर्फ के टुकड़े
पिघलते हैं,
गलते हैं !
और—
कहीं निराधार तरनी वह
तैरती है
अपने ही जल में !

कविता पृष्ठ : 32

▪

33– शिखरों से दूर हूँ

इसमें, उसमें—
अनगिन धंधों में, उलझा हूँ,
शिखरों से दूर हूँ |

पाऊँ जो पंख
अभी हिम-जल से अभिमंत्रित
घाटी में तिर जाऊँ,
लेकिन मजबूर हूँ |

देखना था निर्निमेष भावों में जिन्हें
उन्हें सपनों-सा मन-ही-मन
अनुदिन अभावों में देखता हूँ,
मैं कितना क्रूर हूँ |

कविता पृष्ठ : 33

▪

34- मैं वह क्यों नहीं हुआ

मैं वह क्यों नहीं हुआ !
जिसने
हिम-शिखरों की रक्षा में
पहला आघात सहा |
मैं वह क्यों नहीं हुआ !

जिसने घायल तन से
चौड़ी चट्टानों पर
प्रथम बार
किसी गर्म सोते-सा—
रक्त बहा |
मैं वह क्यों नहीं हुआ !

कविता पृष्ठ : 34

▪

35- साँझ के बादल

जल्दी से
कंघी कर
जूड़े में चाँद खोंस,
उलझे बालों के गुच्छे लपेटे
फेंक दिये खिड़की से जो काली रात ने
सोन-नीर भरे, गहर कुंकुम के तट वाले ताल में,
वे ही ज्यों आँखों के आस-पास तैर रहे,
स्वर्णारूप जलद-खंड चुप संझा-काल में |

कविता पृष्ठ : 35

▪

36- उल्का

शून्य में फैली हुई जड़ कालिमा से
कहा किसने माँ
दुधमुँहा शिशु
सितारे सा कौन टूटा
ज़िंदगी के तप्त तीखे अनुभवों के बीच
छटपटाते दर्द से किसने पुकारा ?
अँधेरे की रिक्त छाती में
उतर आया
दूध सा वात्सल्य !

कविता पृष्ठ : 36

▪

37- अहं का विस्फोट

बड़ा अहंकार हुआ,
वज्रोपम तीव्र किरण-शल्य को प्रविष्ट किया—
अणु के अलक्ष्य सौर-मंडल के सीमित अवकाश में
पाया क्या—
—धरती को चिथड़े सा फाड़ कर ?
केवल विस्फोट अहं का अपने,
कर डाले अपनी ही प्रतिमा के खण्ड-खण्ड !

रचकर दिखाते नगण्य एक अणु ही तब जानता |
विध्वंसक नहीं हो, रचयिता हो मानता |

कविता पृष्ठ : 37

▪

38- अहं का विस्तार

अहं का विस्तार—
है दायित्व भी, दर्द भी,
भोग या सुख ही नहीं है |
पास आने पर उपजता मोह,
मोह जीवन को अज़ब सा अर्थ देता है |
उलझनें नूतन, नये संदर्भ रचकर,

आप ही अपनी नियति को बाँध लेता है |

चित्त विभु है, दूर रहना भी कहाँ सम्भव |
हर नये सम्बन्ध का परिणाम,
किसी दुखती हुई रग का स्पर्श—
और हर दुख पर नये दायित्व का अनुभव |

कविता पृष्ठ : 38

▪

39- मुक्त समय

दृष्टि को हमारी जो बाँधे है
शृंखला क्षणों की यह,
खोल इसे
थोड़ी सी, देर को
निर्मल अभ्यंतर की
मौन स्वच्छ आँखों से
मुक्त समय को देखो
शांति मिलेगी गहरी |

कविता पृष्ठ : 39

▪

40- घास के फूल

घास में खिले नामालूम नन्हें फूल |
अपने मासूम रंगों से सराहते हैं माटी-धूल |
ये कभी नहीं चाहते छोड़ना अपनी मूल |
चाहते हैं केवल इतना ही
कि इन्हें पैर से रौंदने के पहले
कभी तो आदमी समझ ले अपनी भूल |

कविता पृष्ठ : 40

▪

41- आँख

सीमा से सुखी
विस्तार से सुखी

होती है आँख।

बाहर-भीतर

सब वही देखती है।

सीमा से सुखी
मन की भित्तियों में
छवियों पर छवियाँ
लेखती है।
कितनी बहुमुखी
होती है आँख।
सीमा से सुखी
विस्तार से सुखी
होती है आँख।

कविता पृष्ठ : 41

▪

42- **परम्परा**

छूईमुई की भी क्या परम्परा
बाहरी प्रभाव की अँगुलियों ने—
धीरे से
जहाँ छुआ, वहीं मुई।

परम्परा बरगद की
शाखा से शाखा का अनुबंधन,
तूफानों में भी जो अडिग रहे
जिसकी जटिलता भी वंदनीय,
—धरती को जहाँ छुआ, मूल हुई।

कविता पृष्ठ : 42

▪

43- टेरो मत

टेरो मत,
टेरो मत,
बाहों से मुक्त किया,
वाणी से—

घेरो मत।

दूर हूँ
दिशाओं का
सारा व्यवधान चीर
रह रह कर बोल रही
इन बड़री आँखों से
हेरो मत।

दया करो
टेरो मत,
टेरो मत,
टेरो मत,

कविता पृष्ठ : 43

▪

44- दया नहीं दर्द

एक घुंघरू
नृत्य की गति से छिटककर
कहीं गहरे पंक में फँस गया।
मुखरता के लिए
पंकिल मौन का अनुभव विषम
था नया।
खुले होठों में
वही था मधुर स्वर-सामर्थ्य
पर संगीत विजड़ित, रुद्ध !
अज़ब अपनाया लगा मुझको
कि केवल दर्द का
अहसास होता रहा
आयी नहीं मन में दया।

कविता पृष्ठ : 44

▪

45- दूध—सा, फूल—सा

किसको कहूँ मैं,

कैसे कहूँ मैं |
बिना कहे
जी की बात
कैसे रहूँ   मैं ?
यही मन करता है
गंगा की धारा में
दूध – सा, फूल सा
अविरल बहूँ मैं
कैसे कहूँ मैं
किससे कहूँ मैं |

कविता पृष्ठ : 45

▪

46- प्रतिवाद

साहस तुम्हारा
यदि कहते हो,
          पिछड़ा हूँ |
पागल हूँ
उसी के लिए मैं
जिस सत्य से बिछड़ा हूँ |

कविता पृष्ठ : 46

▪

47- शिव और विष

कभी भावों में पले थे,
अब अभावों भरा जीवन जी रहे हैं |
देवता बन कभी अमृत घूँटते थे,
अब बिना शिव हुए ही
          विष पी रहे हैं |

कविता पृष्ठ : 47

▪

48- विश्वास का हाथ

विश्वास के हाथ की
पाँचों उँगलियाँ पंचगव्य हैं
वंचना की दोहरी दृष्टि
जिह्वा है तक्षक की

स्नेह में—
जो भी परीक्षित हो
अपने को पावन करे,
विष से—
नहीं तो, मरे |

कविता पृष्ठ : 48

▪

49- प्रवाहित मछली

मैंने तेज बहते हुए पानी में
हाथ से एक मछली पकड़ ली,
पर वह तब से
मुझ में ही तैरने लगी है |
और अब—
मैं, न जाने कितनी दूर बह आया हूँ
—उस के लिए !

कविता पृष्ठ : 49

▪

50- निचला होंठ

बदली सी भरी-भरी
दो आँखें
मुझ पर झुक आयीं |
अपनी गहराई में
दूर तक सुनती सी
साँसें चुक आयीं |

निचला होंठ
दाँतों के नीचे यों दाब लिया
जैसे गिरते- गिरते
बूँदें रुक आयीं |

कविता पृष्ठ : 50

▪

51- पाश—बद्ध

पाश

जिस में बँध सके आकाश
यदि होगा कहीं तो
भिन्न हो सकता नहीं
उन बाँहुओं से
बाँधकर मेरे अहं को,
जिन्होंने निस्सीम को
सीमित बनाया,
मूर्त रूप दिया अमूर्त-अपार को,
और मृग-छौने सरीखा
पालतू कर लिया
सारे स्नेह के विस्तार को |

कविता पृष्ठ : 51

▪

52- होना—अनहोना

स्नेह-स्पर्श होते ही
आत्मा के पात्र का
लोहा—बन जाता है सोना

'प्यार का परस ही
पारस है'
आस्था के स्वर में
फिर से कह दो ना !

पुण्य का देवालय
बन कर सज उठता है
पाप का पंकमय कोना,

ममतामयी आँखें
सब कुछ कर सकती हैं
होना-अनहोना |

कविता पृष्ठ : 52

▪

53- वक्ष—ध्रुव

लाओ

तुम्हारे वक्ष के अधखुले आकाश में
ठीक बीचोबीच
मैं अपने होंठों से
एक ध्रुवतारा उगा दूँ।
ऐसे बियाबान में
कौन जाने मन की किस भटकन को
इसे देख
हो जाये दिशा-बोध,
सम्भव हो जाये किस सत्य की
नयी शोध।

कविता पृष्ठ : 53

▪

54- घाटी का गुलाब

तीखी लाल
लपटें देती पंखुरियों वाले
अंगार जैसे
उस गुलाब को तोड़ने
बादल उतरते आ रहे हैं
घाटी में।

धीरे-धीरे
गहरी साँसों के वेग से
उभरते हुए वक्ष की
सन्धि में अंकित
उस रक्तिम निशान पर
खुले हुए बाल
बिखरते जा रहे हैं
हलके हलके।

कविता पृष्ठ : 54

▪

55- शब्द—निः शब्द

सुराही से
पानी
गिलास में

ढलते हुए
थोड़ा छलकता है
करता है हलका सा शब्द |

छलके बिना
होंठों से
होंठों में
ममता
ढल जाती है
किन्तु, निः शब्द |

कविता पृष्ठ : 55

▪

56- पंख— स्पर्श

तुम ने
होंठों से
होंठ का
इतने हलके से
स्पर्श किया,
    लगा
    जैसे किसी ने
    पंख से—
    पंख छू दिया |
इस से पहले
ऐसा
हम ने
कब जिया ?

कविता पृष्ठ : 56

▪

57- फूल जो मैंने दिये

फूल जो मैंने दिये
अँजुरी में भर

तुमने माथे से लगा लिये।
होंठ जो मैं ने पिये,
दूनी पिपासा से
मेरी ओर
तुम्हीं ने बढ़ा दिये।
सत्य जो
आँखों में
अनुभव की नाल पर
          लिखता है
मिटता कहीं है क्या
किसी के किये ?

कविता पृष्ठ : 57

▪

58- दो शब्द चित्र

वेणी खुली
साड़ी धुली
रोशनी
काली-सफ़ेद
मिली-जुली।
पाँव
जितना ही
खुलता-उघरता है,
कहता है आँख से—
उतनी ही मुझ में गुराई है
उतनी ही मुझ में सुघरता है।

कविता पृष्ठ : 58

▪

59- बहुवचन

माना—
एक वर्जित सन्दर्भ में
मेरे मुँह से सहसा

बहुवचन निकल गया |
पर इतने से ही
तुनक का
भौहें चढ़ा लेना,
दूर जाकर लेट रहना,
लेटे-लेटे खिलखिलाकर
हँस पड़ना —
भला यह भी कोई बात हुई !

कविता पृष्ठ : 59

▪

60- गिद्ध-दृष्टि

द्रौपदी-युग में भी
एक की उपस्थिति में
दूसरे का आना निषिद्ध था|
नारी को अपलक निहारती
पुरुष की आँख के भीतर
चकोर के साथ ही हमेशा एक गिद्ध था,
अब भी है, आगे भी रहेगा वह
उस ने भी देखा है—
सत्य का ऐसा रूप
जिस की उपेक्षा असम्भव है |

कविता पृष्ठ : 60

▪

61- गलत प्रतिदान

मैं ने तो
सौंपा था
अपना विवेक तक
मन का तुम्हारी
सुकुमारता को
पर तुम ने
जाने क्यों
रोप दी
अपनी कठोरता
मेरे अविवेक पर |

कविता पृष्ठ : 61

▪

62- खुले—मुँदे हम

एक यह मेरी उत्सुकता है सीधी सी
चाहती है जानना जो क्षण भर में
तुम से ही—
सारे तुम्हारे रहस्य को |

एक है तुम्हारी वह दुर्गम निगूढ़ता
जो अपने आप को
क्षण तो क्या,
युगों में भी
खोलने को प्रस्तुत नहीं |

कविता पृष्ठ : 62

▪

63- निर्वासित अहम्

एक का अक्स मन में
एक का तन में
दोनों के भार को
सहती-सम्हालती
दुबली देह अनमनी |
अपनी प्रतिच्छाया
कहीं भी नहीं |

होती तो—
ऐसे जड़ मौन से
उस क्षण तुम्हारे ही द्वारा क्यों
मुझ को निर्वासित—
कर दिया गया होता फिर |

कविता पृष्ठ : 63

▪

64- मनः सृष्टि

सब कुछ कुशल से हो गया
तनिक भी दुखी होने का
सुख नहीं पा सका
केवल सुखी होने का
दुःख झेलता रहा।
कहने को सुख-दुख के
दो ही हैं तंतु
किंतु अनुरंजित मानव-मन
उन में ही अपने को उलझाकर
क्रम से, व्यतिक्रम से
रचता है अनगिन बुनावटें
बूटे-फूल।

कविता पृष्ठ : 64

▪

65- अधूरा मन

जैसे संस्पर्शों ने देह को
ऊपर से नीचे तक भर दिया
वैसे ही निजता ने बाहर से भीतर तक
आत्मा को पूरा,

किन्तु इन दोनों के बीच में
कभी परितृप्त हो
कभी परितप्त हो
अपने संकल्पों-विकल्पों में उलझा हुआ
दुविधा से सना मन
रह गया अधूरा का अधूरा।

कविता पृष्ठ : 65

▪

66- पुरुष—पटु

तुम्हें खूब आता है
पुरुष को
स्वीकारना
नकारना

दुतकारना
और फिर
मनुहारना
दुलारना
पुचकारना,

केवल मुझे ही नहीं आता है
सारे अपमानों को भूल कर
पूछँ हिलाना
दाँत चियारना |

कविता पृष्ठ : 66

▪

67- इस बार भी

तरह-तरह के
काम-काज में
अपने को खोये रहकर
मन ही मन सब सहा,

पर जब
न चाहने पर भी
अकस्मात्
आँख से कुछ बहा,
तो समझा,
तुम से अपने को
अलग करने में
मैं इस बार भी
कितना असफल रहा |

कविता पृष्ठ : 67

▪

68- नकारती लौ

अन्ततः तुम्हीं ने
मुझसे बात की |
मोम-सी पिघल गयी
गाँठ आघात की |

पंख की तरह
बहुत हलका हो गया मन
नन्हीं-सी लौ ने
नकार दी,
महाकाश तक फैली
अँधियारी
रात की |

कविता पृष्ठ : 68

▪

69- तुम्हें नहीं मालूम

मैं कितने बड़े मानसिक परिवर्तन से गुजर रहा हूँ ,
तुम्हें नहीं मालूम |
मैं क्या था और क्या होकर बिखर रहा हूँ ,
तुम्हें नहीं मालूम |
तुम्हें शायद यह भी पता नहीं
कि आदमी जिस से बहुत दूर जाना चाहता है
उस के सब से करीब होता है,
और नाउम्मीदी में डूबा हुआ इंसान
कुछ लम्हों में, बेहद गरीब होता है |

कविता पृष्ठ : 69

▪

70- भय का बिंदु

इस बार
तुम ने मुझे
जिस जगह रोक दिया
वहाँ शायद कोई भी स्त्री
किसी पुरुष को नहीं रोकती |
कितना भयानक होता है
वह भय जो उपजता है
उत्तेजना के अंतिम बिंदु पर !
मुझे नहीं चाहिए
तुम्हारी यह कायर आसक्ति

मैं ऐसे स्नेह-प्यार पर थूकता हूँ :

कविता पृष्ठ : 70

▪

71- अर्थ- बोध

सोचता था
काँटे से काँटा निकालूँगा,
लेकिन अब देखता हूँ—
तुम से विमुख होकर
मैं ने तो वही डाल काट दी
जिस पर पाँव टेके था |

उपमा-सिद्ध कवि का
ऐसा अनुयायी उपमान,
और वह भी मैं !
कौन-सा नया अर्थ
सूझा मुझे
उस की गुण-गाथा से !

कविता पृष्ठ : 71

▪

72- **यातना और दाह**

चोटों ने
देह और मन को एक कर दिया है,
एक बहुत बड़ी खाई को
पीड़ा, यातना, दंश और दाह से
भर दिया है |

तुम्हें हर चोट दिखाऊँ
हाथ में हाथ लेकर महसूस कराऊँ
अब इस की भी जरूरत नहीं रह गयी है,
मेरी ज़िंदगी चुपचाप
चोटों का दरिया सह गयी है |

कविता पृष्ठ : 72

▪

73- ओस-विष

अधमुँदी पलकों पर
ताजे गुलाबों से
ओस की इतनी बूँदें
टपकाने के बाद
अब यह अप्रत्याशित
विष की झड़ी क्यों ?

किस पंखड़ी के नीचे
छिपा रक्खा था
काला करैत-फन ?

कविता पृष्ठ : 73

▪

74- भष्म-शेष

बात वह विष-बुझी
जो कहीं तुम्हारे मन की गुहा में छिपी थी
तुम्हारे ही होठों ने कही,
मेरे लिए असह थी सर्वथा
फिर भी मैं ने
जैसे भी सही गयी, सही |

उस क्षण से लगातार मिचली-सी आती है
सारे कपाल में
जलती हुई लाशों की गंध भर गयी है |

बाकी सब कुछ गलीज,
अब केवल चिता की भष्म ही पवित्र है,
शेष जो कुछ भी है, धुएँ का, धूल का चित्र है |

कविता पृष्ठ : 74

▪

75- वेश : मुक्त-केश

रात में बरसते हुए

पानी से
खुले केश।
चेहरे के पार्श्व में
दोनों ओर
बहता है
काला रेशम-झरना।

ज्यों कोई लम्बा बारीक बाल
कपड़े में कहीं पर
चिपका रह गया हो
त्योंही अहसास एक
घिरते अँधेरे का
मन से हटाये नहीं हटता।

कविता पृष्ठ : 75

▪

76- वरणीय

धीरे से तुम ने
एक बहुत भली बात कही,
आगे भी याद रहेगी
जैसे इतने दिन याद रही।

और गहरे जीने की इच्छा से
प्रेरित होकर, जो भी—
कर्म किया जाता है
वही करणीय है।

जैसा भी पत्र हो,
परिस्थिति हो जैसी भी,
जीवन वरणीय है।

कविता पृष्ठ : 76

▪

77- आत्मान्वेषी मौन

मैं ने कहा— सत्य है

तुम ने कहा— भ्रम है
हम-तुम ने कहा— सत्य भ्रम है
तुम-हम ने कहा— भ्रम सत्य है
हम दोनों ने मिलकर घोषित किया—
— सब कुछ अनिर्वचनीय है;
अन्ततः यह भी हम ने कहा ही तो।

सचमुच शब्दातीत
हम कहाँ हो सके ?
अपने को सार्थक
आत्मान्वेषी मौन में
कहाँ खो सके ?

कविता पृष्ठ : 77

▪

78- प्रदीप्त क्षण

तब मेरी इच्छा थी,
तुम्हारी नहीं,
अब तुम्हारी इच्छा है
मेरी नहीं।

इच्छा-अनिच्छा की
इस धूप-छाँह में
हरसिंगार के फूलों से
बिखरे पड़े हैं—
वे प्रदीप्त क्षण
जिन में लाल-सफेद रंगों की तरह
एकाकार हो गयी थी
हम दोनों की इच्छा।

कविता पृष्ठ : 78

▪

79- अवतरण

नाभि के कूप में
चुम्बन एक

हरसिंगार फूल-सा गिरा|

तल तक पहुँचने के पहले
उस रोमांचित राह में
कई बार फिरकी-सा फिरा|

तब कहीं
कमल की छिद्रमयी नाल के
भीतर से झाँकते
उज्जवल तरंगायित गहरे जल-वृत्त के
माथे पर गिरा|

कविता पृष्ठ : 79

▪

80- चुनौती के बाद

तुम ने
जाने के लिए पैर बढ़ाया
तो अचानक रुक क्यों गये ?

तुम ने गर्व से सर उठाया
तो इस तरह झुक क्यों गये ?

क्या हुआ
जो तुम ने मेरी ताकत
आजमाने का हौसला किया,

पर जब मैं ने
आँखों से आँखों को तौलकर
तुम्हारी चुनौती स्वीकार ही ली
सो तुम मुझ से पहले
सहसा चुक क्यों गये ?

कविता पृष्ठ : 80

▪

81- नदी के धोखे

जंगल की आग में

पड़े हुए फल की तरह
रह-रह कलेजा चटखता है,

धुएँ की घुटती दीवारों में बंद है
भुनता-सुलगता हुआ सारा वन।

इतना दाह, इतनी मर्मान्त-प्यास—
हरे-भरे तरुओं के भीतर से झाँकती हैं
लपटों की जीभें लाल।

तुम से सम्पृक्त हो
एक क्षण जो मैं ने कभी जी लिया।
नदी के धोखे, मुझे लगता है—
मैं ने यही दावानल पी लिया।

कविता पृष्ठ : 81

▪

82- परितृप्ति की खोज

एक परितृप्ति जो—
होंठों से होंठों में बह गयी।
एक परितृप्ति जो
भीतर के अविज्ञात सत्य को
आँखों से कह गयी।
किन्तु मैं खोजता हूँ

दृष्टि के सूक्ष्म संकेतों में
पूरे आत्मदान के बाद उपजनेवाली
वह परितृप्ति जो—
मुझ तक आने में अब भी शेष रह गयी।

कविता पृष्ठ : 82

▪

83- सार्थकता

सूखी नदी में
नैतिकता का नाव-पुल व्यर्थ है।

यदि है तो—
सब की सार्थकता है अनुभव की राह में;
जल में, तरंगों में, गति में, प्रवाह में |

कविता पृष्ठ : 83

▪

84- दृष्टि : सही अर्थ में

चार होंठों की
प्रगाढ़ एकता के
निर्विकार, अविरल, आस्वाद से
जब भी उपजती है
गहरे मर्मों को
तल तक सहलाने वाली दृष्टि |
वही होती है,
सही अर्थ में—
दृष्टि कहलाने वाली दृष्टि |

कविता पृष्ठ : 84

▪

85- **युग्म भाव के तीन दोहे**

अमृत मिले या विष मिले, मन विशाल या क्षुद्र |
रत्न खोजने नर चला, नारी महा-समुद्र ||

नारी को खोजती, नर असीम आकाश |
जितना भी अनुभव मिले, मिटती नहीं तलाश ||

एक दूसरे के बिना, है अपूर्ण अज्ञात |
बनी अनन्त रहस्य है, नर-नारी की बात ||

कविता पृष्ठ : 85

▪

86- सिन्धु द्वारे सिन्धु

सिन्धु द्वारे सिन्धु
क्या कहूँ

दोनों दिशाओं में अगम विस्तार
बाहर विविधता की शृंखलाओं का विमुग्ध प्रसार
भीतर अनकही अनगही घनी अनुभूतियों का क्षुब्ध पारावार
दो अमाप अकूल छोरों की निविड़ लघु ग्रन्थि सा अस्तित्व
उलझनों में बँधा, जकड़ा मोह में
डसा दुमुँहें साँप से—
विष-द्विधा से संतप्त
देह की इस देहली पर |
लिये मन में,
कल्पना का क्षीर-सागर |

कविता पृष्ठ : 86

▪

87- शब्द-हीनता

फिर वही—
कुछ भी कहूँगा मैं
तुम उत्तर दोगी नहीं,
अन्ततः
तुम्हारी निर्निमेष शब्दहीनता
मुझसे सहन होगी नहीं |

कविता पृष्ठ : 87

▪

88- अधर—स्पर्श

दर्द भरे माथे पर होंठ,
उलझ रहे बालों पर होंठ |
डूब रही आँखों पर होंठ,
भीग गये गालों पर होंठ |

बिना कही हुई, रुँधी बातों पर होंठ !
रहे-सहे गहरे आघातों पर होंठ |

कविता पृष्ठ : 88

▪

89- विडम्बना

नायक जी
धुआँधार—
प्रणय-निवेदन
करते ही रहे,
सारी
स्वकीय-परकीयाएँ
गर्भवती हो गयीं।

कविता पृष्ठ : 89

▪

90- प्रश्न-ग्रंथि

'तुम मुझे कुछ नहीं समझते ?'
'तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं है ?'
हर मानसिक संघर्ष के मूल में
प्रश्नो की यही गाँठ सभी कहीं है।

कविता पृष्ठ : 90

▪

91- काला-सफेद

क्या कहा ?
काली करतूत
और
काला धन
भीगती मसों काही
चमकदार पानी है।
डूबते सितारों की
उठती जवानी है !

उजला सफेद धन
देश का बुढ़पा है,
स्यापा ही स्यापा है !

संगम पर रहता हूँ।
खरी बात कहता हूँ।

कविता पृष्ठ : 91

▪

92- पुतली

नाश औ निर्माण के दोनों ध्रुवों के बीच,
सारी जिन्दगी तिरती |
जागरण में, स्वप्न में, सुख-दुख सँजोये—
ठीक पुतली की तरह फिरती |

चिर-शयन बन
शीश पर जब मृत्यु आ घिरती,
फिर नहीं फिरती, नहीं तिरती |

कविता पृष्ठ : 92

▪

93- नखत की परछाईं

अँकुरतीं सी क्यारियों में धान की,
राशि, वर्षा के बिखरते दान की,
हुई संचित
उसी संचित राशि में सीमंत सी
झिलमिलाई
क्षीण परछाँईं
फूटे-टूटे बादलों के बीच से
झाँकते नन्हें नखत की |

नखत की वह क्षीण परछाँईं
छू गई हर एक रग जी की |

युग-युगों से हृदय की सुकुमार पर्तों में बसी थी जो
वह रजत सी रात पूनों की
लग उठी फीकी |

कविता पृष्ठ : 93

▪

94- टूटा शीशा

हृदय में तुमको लिये चुप ही रहा, मैंने—
न कुछ सोचा न कुछ मुख से कहा मैंने,
स्नेहवश सब कुछ सहा मैंने |

किन्तु था वह सभी अत्याचार,
तुम समझ बैठे उसे अधिकार—
मेरे मौन रहने से |

था हमारा शुभ्र शीशे की तरह जो पारदर्शी प्यार,
पड़ गयी—पड़ती गयी उसमें अपार दरार |
जो समर्पण था सहज—वह बन गया संभार |

अपशकुन है मौत ! शीशे का दरक जाना |
कही मानोगे—अगर अब तक नहीं माना |

कविता पृष्ठ : 94

▪

95- समय की माँग

पीड़ा, सहानुभूति,
करुणा, समवेदना—
मानवीय आत्मा में
जब भी जहाँ जागते हैं;
बार-बार जीवन से
आत्मादान माँगते हैं |
लेकिन इन सबका—
ढिंढोरा जो पीटते हैं,
छिपे-छिपे वे ही तो—
षड्यंत्र रचते हैं
गोलियाँ दागते हैं |

कविता पृष्ठ : 95

▪

96- सूखा–संत्रास

सरकार,
सूखे से संत्रस्त है,

जनता,
सरकार से |
अधिक है—
किसका संत्रास,
यह भुक्तभोगी ही जानते हैं !
कैसा आश्चर्य है !
विधि की विडम्बना को
दोनों पक्ष मानते हैं !

कविता पृष्ठ : 96

▪

99- हरसिंगार रात

केले के पात पात
झरे पारिजात |
गमक उठे गंध से
हरे-भरे गात |

बंदन पर दूध-रंग
पंखुरियाँ सात |
फिरकी सी घूम-घूम
ओस बनी रात |

हर अटके फूल पर
किरनों की घात |
टहनी को कहनी—
किसके मन की बात ?

कविता पृष्ठ : 97

▪

98- दृश्य—शिशु

दूध के अधउगे दाँत-सी
कोर हिम-शृंग की
फूटी फिर
उस स्लेटी बादल की ओट से |

चलता हूँ

अरे ! तनिक ठहरो भी,
पहले मैं इस शिशु का
पूरा मुख तो निहार लूँ !

कविता पृष्ठ : 98

▪

99- एक घटना

एक घटना
ठीक वैसे ही
कि जैसे
बहुत पहले जानता था
घटी |

मिली हलकी झलक
समयातीत निज अस्तित्व की
काल की काई अचानक फटी |

शृंखला पर कर्म की विश्वास कुछ-कुछ बढ़ा
बुद्धि-मन की सर्वतंत्र स्वतंत्रता से
आस्था कुछ घटी |

कविता पृष्ठ : 99

▪

100- एक समीकरण

जो भारी चाकू से क्रीड़-आह्लाद में
अनजाने—
अपने ही हाथों को काट ले
बालक है — जियेगा अभी बरसों |

अपने-अणु-अस्त्रों के स्पर्धा-उन्माद में
अनचाहे—
जो मन को, जीवन को, लाशों से पाट ले
वह मानव भी तो निश्चय शिशु है,
जियेगा अभी जुग-जुग |

कविता पृष्ठ : 100

▪

101- सत्ता

सत्ता
ताश के खेल में
तुरुप का पत्ता |
जिसके भी हाथ लगे
उसी की महत्ता |

कविता पृष्ठ : 101

▪

102- एक व्यक्ति-चित्र

काले बालों के सिरे पर
काँपती सफेद लट,
देश के भाग्य को
ज़हरीली नागिन एक
डस कर गयी उलट |

कविता पृष्ठ : 102

▪

103- सीधी बात का काँटा

'देस पूरब में—
अभागा भूख से कोई मरा'
—यह बात कहने में बहुत सीधी |
पर कहीं इस सिधाई में भी छिपा काँटा,
उसी ने चेतना बीधी |

मौत भी क्या खूब—
जो खत्ती भरे उन पर न रख कर दाँत
मरभुखों की खींची सूखी आँत पर गीधी |

कविता पृष्ठ : 103

▪

104- कुछ शेर

टके पर सब कुछ टिका है |
आदमी कितना बिका है !

झुग्गियों की लाश पर—
उँची उठी अट्टालिका है |

ज़िन्दगी सागर किनारे |
एक रोती बालिका है |

हर मुसव्विर है पिकासो,
हर रचाव गुएर्निका है |

कविता पृष्ठ : 104

▪

105- कब्र की आवाज़

जानकार जानते हैं
अंधाधुंध लादे हुए कर्जों के बोझ से
देश की कमर टूटी जा रही है |

महँगाई ! महँगाई !! महँगाई !!!
कब्र के भीतर से
चीखने की आवाज़
यों ही नहीं आ रही है !

कविता पृष्ठ : 105

▪

106- कीमतें

कौन सी खाई कि जिसको पाटती हैं कीमतें !
उम्र को तेजाब बनकर चाटती हैं कीमतें !
आदमी को पेट का चूहा बना कर रात-दिन,
नोंचती हैं, कोंचती हैं, काटती हैं कीमतें |

कविता पृष्ठ : 106

▪

107- लोकतंत्र

सामता, ममता, स्वाभिमान,
सब मानव-मन की भाषा |
मानवता ही लोकतंत्र की
प्रामाणिक परिभाषा !

कविता पृष्ठ : 107

▪

108- स्वतन्त्रता

राष्ट्रभावना-प्रधान देश ही स्वतन्त्र है।
व्यक्ति का विकास-बिन्दु लोकतन्त्र मन्त्र है।
कंज-कोष-भाव से, सुगंध दे, पराग दे,
है वही मनुष्य जो विभेद-बुद्धि त्याग दे।

कविता पृष्ठ : 108

▪

109- विलोम—पथ

वाक्य काव्य बनता
विलोम-पथ
स्वयं लक्ष्य बन जाता।
मानव अपने अन्तर्मन में
नव सर्थकता पाता।
व्यक्ति-समाज अभिन्न रहे हैं,
सदा रहेंगे गतिमय।
लय के आत्मबोध से उपजा
भाव बनाता मतिमय।

कविता पृष्ठ : 109

▪

110- काव्य-सृजन

कवि की प्रतिभा
मौलिकता को
कर देती संभाव्य।
नया अर्थ
शब्द में आकर
बन जाता है काव्य।

कविता पृष्ठ : 110

▪

111- वाणी-वंदना

जिसका अपनापा है
मानव के चेतन विवेकपूर्ण बोध से |
जिसका बहनापा है
जीते हुए स्नेह और हारे क्रोध से |
उस वाणी के आगे
सच मानो
मेरा विश्वास
सहज अर्पित है,
मेरा अस्तित्व समर्पित है |

कविता पृष्ठ : 111

▪